Naveen Shodh Sansar (An International Refereed / Peer Review Multidisciplinary Research Journal)
RNI No.- MPHIN/2013/60638, ISSN 2320-8767, E- ISSN 2394-3793, Scientific Journal Impact Factor (SJIF)- 8.054,
January to March 2026, E-Journal, Vol. I, Issue LIII (53), ISO 9001:2015 - E2024049304 (QMS)

मेवाड़-वागड़ के प्रमुख संत और उनकी तपस्थली एवं सांस्कृतिक देन

किरण सिंह*

* शोधार्थी (इतिहास) संगम विश्वविद्यालय, भीलवाड़ा (राज.) भारत

शोध सारांश – दक्षिणी राजस्थान का मेवाड़ और वागड़ क्षेत्र भारतीय संत परंपरा, लोकधर्म, भक्ति आंदोलन, जैन साधना तथा आदिवासी सांस्कृतिक चेतना का महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल और आधुनिक युग तक यहाँ अनेक संत, सिद्धपुरुष, जैनाचार्य, वैष्णव भक्त तथा लोकदेवताओं ने समाज को आध्यात्मिक दिशा प्रदान की। इन संतों की तपस्थलियाँ, मंदिर, आश्रम और तीर्थ आज भी धार्मिक आस्था, लोकसंस्कृति तथा सामाजिक समरसता के प्रमुख केंद्र हैं। मेवाड़ की संत परंपरा में भक्ति, त्याग, राष्ट्ररक्षा और लोकमंगल का समन्वय दिखाई देता है, जबकि वागड़ क्षेत्र में आदिवासी जीवन, प्रकृति-पूजा और संतमत का विशिष्ट स्वरूप विकसित हुआ। इन संतों और उनके तीर्थस्थलों ने क्षेत्रीय भाषा, लोककला, संगीत, स्थापत्य, सामाजिक सुधार और धार्मिक सहिष्णुता को समृद्ध किया।

शब्द कुंजी – संत, मेवाड़,वागड़, भक्ति, योग, मीरा बाई, हारित, गुमान सिंह, चतुर सिंह, मावजी, गवरी बाई।

मेवाड़ और वागड़ का ऐतिहासिक परिचय – मेवाड़ दक्षिणी राजस्थान का वह ऐतिहासिक क्षेत्र है जिसकी पहचान वीरता, संस्कृति और धर्मरक्षा से जुड़ी रही है। चित्तौड़गढ़, उदयपुर, राजसमंद तथा भीलवाड़ा इसके प्रमुख भाग रहे हैं। वागड़ दक्षिण-पूर्वी राजस्थान का क्षेत्र है जिसमें मुख्यत: डूंगरपुर और बांसवाड़ा आते हैं। यह क्षेत्र आदिवासी संस्कृति, लोकपरंपराओं तथा संत-साधना का प्रमुख केंद्र रहा है।

मेवाड़-वागड़ के संत एवं तपस्थलियाँ

1. ऋषि परंपरा और एकलिंग क्षेत्र– एकलिंगजी मंदिर मेवाड़ की धार्मिक चेतना का प्राचीन केंद्र रहा है। माना जाता है कि इस क्षेत्र में शैव साधकों और सिद्धों की परंपरा विकसित हुई। मेवाड़ के शासकों ने स्वयं को भगवान एकलिंग (शिव) का दीवान माना। यहाँ पाशुपत-लकुलीश मत के प्रसिद्ध योगी हारित राशि आठवीं शताब्दी में हुए जो कि मेवाड़ राज्य के संस्थापक बाप्पा रावल के गुरूदेव थे जिनकी साधना से परमेश्वराय जी एकलिंग जी के उद्भव को सम्बद्ध किया जाता हैं।इसी मंदिर के निकट आज भी हारित आश्रम स्थित हैं। बापा रावल ने भी राज कार्य के बाद जीवन में संन्यास धारण किया और इनका समाधी स्थल आज भी मंदिर के रूप में एकलिंग जी से 3 किलोमीटर उत्तर की ओर स्थित हैं।

सांस्कृतिक योगदान

1. शैव धर्म का संरक्षण।
2. मंदिर स्थापत्य का विकास।
3. राज्य और धर्म के समन्वय की परंपरा।

2. संत मीराबाई – मीराबाई मेवाड़ की सर्वाधिक प्रसिद्ध संत शिरोमणि थीं। उनका जन्म कुड़की (बाजोली) में हुआ तथा विवाह मेवाड़ के राजपरिवार में हुआ। चित्तौड़ और मेड़ता उनकी साधना से जुड़े प्रमुख स्थान हैं।

अपने जीवन के उत्तरार्ध काल में मीरा जी ने वृन्दावन में श्रीकृष्ण के अनेक अनुयायियों, पंथों के बीच श्रेष्ठत्व सिद्ध करने की प्रतिस्पर्धात्मक खिंचातान के दूषित वातावरण के चलते मीरां बाई ने वृन्दावन छोड़कर द्वारिकाधीश की शरण में द्वारिकापुरी जाना ही उचित समझा। मीरां बाई जब तक वृंदावन में रही तबतक राव वीरमदेव और जयमल ने मीरां बाई से निरंतर संपर्क बनाए रखा तथा उनके लिए सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध कराते रहे। श्रीकृष्ण ने जिस तरह अनेक लीलाओं के उपरांत वृन्दावन और मथुरा छोड़कर अंत में द्वारिकापुरी को प्रस्थान किया, मीरां बाई ने भी उसी तरह अपने आराध्य गोविन्द के पथ का अनुसरण करते हुए, विक्रमादित्य के कारण चितौड़गढ छोड़ा, तो मालदेव के कारण मेड़ता और अजमेर छोड़ा। जीवन के उत्तरार्ध में मीरां जी ने संतों के सम्प्रदाय व पंथ वाद के झगड़ों व श्रेष्ठता सिद्ध करने के प्रतिस्पर्धात्मक व्यवहार के कारण अंत में वृन्दावन को भी छोड़कर गलता जी, पुष्कर जी, रूपनारायण जी सेवंत्री (मेवाड़), चारभुजानाथ गढ़बोर (मेवाड), सिद्धपुर, गुजरात बिन्दु सरोवर में पवित्र स्नान कर 1551 ई. में डाकोर जी पहुंच कर भक्तिरस में लीन हो गई। डाकोर जी में लगभग छ: मास गुजारने के बाद 1552 ई. में शियाणी पहुंची। वहां भी भजन-कीर्तन करते हुए लगभग छह माह बिताए, स्थानीय जनता के आग्रह पर वहां एक मंदिर के नीव की स्थापना करवाकर उसमें केशवराय जी के श्रीविग्रह की स्थापना की। मीरां बाई अपनी भजन मंडली के साथ शियाणी से प्रस्थान कर गंगवा कुण्ड, वढवाण, मूळी, थानगढ, वांकानेर, टंकारा, थोल होते हुए जांबुड़ा पहुंची, 1552 ई. में चातुर्मास वहीं किया। तथा वहां स्थानीय लोगो के सहयोग से एक बावड़ी का निर्माण करवाया जो वर्तमान समयष जांबुड़ा गांव में भी मौजूद है। इस प्रकार वृन्दावन से द्वारिका पुरी तक मार्ग में पड़ने वाले अनेक तीर्थों के दर्शन के साथ भजन-कीर्तन करते हुए, गुजरात की धरा पर पुण्यार्थ कर्म संपन्न कराते हुए, अपनी भक्तमंडली के साथ 1552 ई. में प्रभु द्वारिकाधीश के चरणों में द्वारिका पहुंच भक्तिरस में

लीन हो गई।

प्रमुख स्थल:

1. मीरा मंदिर
2. चित्तौड़गढ़ दुर्ग परिसर

सांस्कृतिक योगदान:

1. कृष्णभक्ति को जन-जन तक पहुँचाया।
2. राजस्थानी साहित्य को समृद्ध किया।
3. स्त्री आध्यात्मिक स्वतंत्रता का आदर्श प्रस्तुत किया।

3. संत मावजी महाराज- संत मावजी महाराज को वागड़ का कृष्णावतार माना जाता है। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यत: बांसवाड़ा और डूंगरपुर रहा।

प्रमुख तपस्थली- बेणेश्वर धाम - माही, सोम और जाखम नदियों के संगम पर स्थित यह वागड़ का सबसे बड़ा धार्मिक केंद्र है।

संत मावजी : जीवन, ज्ञानप्राप्ति एवं साहित्यिक विरासत - संत मावजी का जन्म माघ शुक्ल एकादशी, सोमवार, सन् 1714 ईस्वी में डूंगरपुर जिले के साबला ग्राम में एक औदिच्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम दालम ऋषि तथा माता का नाम केसरबाई था। आध्यात्मिक शिक्षा के क्षेत्र में उनके गुरु सहजानन्दजी माने जाते हैं।

बाल्यावस्था में मावजी का स्वभाव अत्यंत सरल, निष्कपट और अलौकिक था। उनकी सहज एवं अनोखी गतिविधियों के कारण लोग उन्हें वागड़ी भाषा में 'गांडा' अर्थात् भोला या पागल समझते थे। किंतु यही बालक आगे चलकर वागड़ क्षेत्र के महान संत और लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

लगभग बारह वर्ष की आयु में मावजी ने माही और सोम नदियों के पवित्र संगम स्थल बेणेश्वर धाम को अपना निवास बनाया। वागड़ का यह तीर्थ 'वागड़ प्रयाग' तथा 'वागड़ वृन्दावन' के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं उन्होंने कठोर साधना, ईश्वर-चिंतन और आत्ममनन के माध्यम से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया।

उनके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में डूंगरपुर राज्य पर महारावल रामसिंह (1702-1730 ई.) का शासन था। ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् जब महारावल शिवसिंह (1730-1785 ई.) राज्यसिंहासन पर आसीन हुए, उसी काल में मावजी एक सिद्ध संत, समाज-सुधारक और लोकधर्म के प्रवर्तक के रूप में व्यापक रूप से प्रसिद्ध हुए।

संत मावजी द्वारा रचित प्रमुख ग्रंथ एवं उनसे संबंधित तपोस्थलियाँ

1. मेघसागर- यह ग्रंथ साबला स्थित हरिमंदिर में सुरक्षित रखा गया है। साबला वही पवित्र स्थान है जहाँ संत मावजी का जन्म हुआ था। इसलिए यह स्थल उनके जीवन और साहित्यिक साधना का प्रमुख केंद्र माना जाता है।

2. प्रेमसागर- प्रेमसागर ग्रंथ डूंगरपुर जिले के पूंजपुर में संरक्षित है। यह स्थान मावजी की पत्नी के निवास से संबंधित होने के कारण उनकी पारिवारिक एवं आध्यात्मिक जीवन-यात्रा का महत्वपूर्ण केंद्र माना जाता है।

3. रतनसागर- रतनसागर ग्रंथ वर्तमान में विश्वकर्मा मंदिर में सुरक्षित रखा गया है। यह मावजी की वाणी और उनके धार्मिक विचारों का महत्वपूर्ण स्रोत है।

4. श्यामसागर- यह ग्रंथ शेषपुर में संरक्षित है। शेषपुर संत मावजी की समाधि स्थली होने के कारण विशेष धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व रखता है। यहाँ उनके अनुयायी श्रद्धापूर्वक दर्शन एवं स्मरण के लिए आते हैं।

5. अनन्तसागर- मावजी द्वारा रचित पाँचवाँ ग्रंथअनन्तसागरमाना जाता है। परंपरागत मान्यता के अनुसार यह ग्रंथ बाद के समय में पेशवा की सेना द्वारा साबला से अपने साथ ले जाया गया था, जिसके कारण वर्तमान में इसकी उपलब्धता और संरक्षण को लेकर विभिन्न मत प्रचलित हैं।

इस प्रकार संत मावजी ने अपने ग्रंथों, आध्यात्मिक साधना, लोकभाषा में दिए गए उपदेशों तथा बेणेश्वर, साबला, पूंजपुर और शेषपुर जैसी तपोभूमियों के माध्यम से वागड़ क्षेत्र की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना को गहराई से प्रभावित किया।

सांस्कृतिक योगदान:

1. आदिवासी समाज में धार्मिक चेतना।
2. लोकभाषा वागड़ी साहित्य का विकास।
3. सामाजिक समरसता और लोककल्याण की भावना।

4. गवरी बाई : वागड़ की मीरा के रूप में विख्यात कृष्ण-भक्त साध्वी- वागड़ अंचल की सुप्रसिद्ध संत-कवयित्रीगवरी बाईको उनकी अनन्य कृष्ण-भक्ति और काव्य-साधना के कारण 'वागड़ की मीरा' कहा जाता है। उनका जन्म विक्रम संवत् 1815 (लगभग 1758 ई.) में डूंगरपुर के एक वड़नगरा नागर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही उनका झुकाव आध्यात्मिकता और ईश्वर-भक्ति की ओर था। उस समय की सामाजिक परंपराओं के अनुसार उनका विवाह मात्र पाँच वर्ष की आयु में एक ब्राह्मण बालक से कर दिया गया, किंतु दुर्भाग्यवश विवाह के केवल आठवें दिन ही उनके पति का असाध्य रोग के कारण निधन हो गया। इस घटना ने उनके जीवन को एक नया मोड़ दिया और उन्होंने सांसारिक जीवन से विरक्ति ग्रहण कर स्वयं को पूर्णत: भक्ति-मार्ग के लिए समर्पित कर दिया।गवरी बाई अत्यंत सरल, सौम्य, बुद्धिमती और संवेदनशील स्वभाव की थीं। उनकी प्रतिभा असाधारण थी, जिसके कारण उन्होंने अल्प समय में ही पर्याप्त ज्ञान अर्जित कर लिया। वे नियमित रूप से पूजा-पाठ, हरि-कीर्तन तथा धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन में संलग्न रहती थीं। विशेष रूप से श्रीमद्भगवद्गीता और रामायण का श्रवण और अध्ययन उनके जीवन का अभिन्न अंग था। वे अपना अधिकांश समय कृष्ण-आराधना, सत्संग और धार्मिक साहित्य के अध्ययन में व्यतीत करती थीं।लगातार साधना और भक्ति के प्रभाव से उनमें काव्य-प्रतिभा का भी विकास हुआ। उन्होंने अनेक भजन, पद और कविताओं की रचना की, जिनमें श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम, भक्ति, विरह, वैराग्य और आध्यात्मिक अनुभूतियों का सुंदर चित्रण मिलता है। उनकी रचनाओं में लोकभाषा की सहजता और भक्तिभाव की गहनता दिखाई देती है, जिसके कारण वे जनमानस में अत्यंत लोकप्रिय हुईं।

दीर्घकाल तक की गई उनकी अनन्य ईश्वर-भक्ति और आध्यात्मिक साधना के कारण गवरी बाई की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। उनकी भक्ति, तपस्या और संतस्वरूप व्यक्तित्व की चर्चा चारों ओर होने लगी। जब उस समय के डूंगरपुर नरेश 'महारावल शिवसिंह' (1730-1785 ई.) को उनके बारे में जानकारी मिली, तो वे स्वयं गवरी बाई के दर्शन करने उनके निवास स्थान पर पहुँचे। गवरी बाई की गहन कृष्ण-भक्ति, आध्यात्मिक ज्ञान और साध्वी जीवन से प्रभावित होकर महारावल ने उनके सम्मान में एक भव्य एवं सुंदर मंदिर का निर्माण करवाया और उसे उन्हें समर्पित कर दिया।यह मंदिर आज भी डूंगरपुर नगर के मध्य भाग में स्थित है तथा गवरी बाई की स्मृतियों से जुड़ा एक महत्वपूर्ण धार्मिक स्थल माना जाता है। विक्रम संवत् 1838 की माघ शुक्ल षष्ठी, गुरुवार के दिन इस मंदिर में ठाकुरजी

की विधिवत एवं भव्य प्रतिष्ठा संपन्न की गई। इसके पश्चात् गवरी बाई ने मंदिर को ही अपना स्थायी निवास बना लिया और वहीं रहकर भक्ति, साधना तथा सत्संग में अपना जीवन व्यतीत करने लगीं।महारावल शिवसिंह ने मंदिर में आने वाले साधु-संतों, श्रद्धालुओं और हरिभक्तों की सुविधा के लिए भोजन एवं अन्य आवश्यक व्यवस्थाएँ भी सुनिश्चित करवाईं। परिणामस्वरूप यह मंदिर केवल पूजा-अर्चना का केंद्र ही नहीं रहा, बल्कि संतों और भक्तों के सत्संग, आध्यात्मिक चर्चा तथा धार्मिक गतिविधियों का प्रमुख स्थल भी बन गया।

समय के साथ इस मंदिर की प्रतिष्ठा, आध्यात्मिक महत्ता और ख्याति निरंतर बढ़ती गई। यह स्थान धार्मिक एवं आध्यात्मिक गतिविधियों का प्रमुख केंद्र बन गया, जहाँ दूर-दूर से विद्वान, संत और धर्मप्रेमी जन आने लगे। अनेक विद्वान यहाँ वेदों, पुराणों तथा अन्य धर्मग्रंथों का अध्ययन और चिंतन करते थे। गवरी बाई भी इन धार्मिक एवं आध्यात्मिक आयोजनों में पूर्ण सहयोग प्रदान करती थीं और संतों तथा विद्वानों का आदरपूर्वक स्वागत करती थीं।मंदिर में नियमित रूप से सत्संग, भजन-कीर्तन और धार्मिक चर्चाओं का आयोजन होने लगा, जिनमें उस समय के डूंगरपुर नरेश भी रुचिपूर्वक भाग लेते थे। परिणामस्वरूप यह स्थान साधु-संतों और भक्तों का प्रमुख मिलन-स्थल बन गया तथा यहाँ प्रतिदिन बड़ी संख्या में श्रद्धालु आने लगे।इन्हीं आगंतुक संतों में एक अत्यंत विद्वान और ज्ञानी महात्मा भी थे। वे गवरी बाई की निष्काम भक्ति, आध्यात्मिक साधना और कृष्ण-प्रेम से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें साक्षात मीराबाई का स्वरूप मानने लगे। उनका विश्वास था कि यदि मीराबाई की भक्ति में कोई अपूर्णता रह गई थी, तो उसकी पूर्णता के लिए ही गवरी बाई ने इस धरती पर जन्म लिया है।विदा होते समय उस महात्मा ने श्रद्धापूर्वक गवरी बाई को बाल स्वरूप श्रीकृष्ण अर्थात् बालमुकुन्द की एक छोटी एवं सुंदर प्रतिमा भेंट की। इसके बाद वे वहाँ से चले गए और फिर उनके बारे में कोई निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी। यह घटना गवरी बाई के जीवन की महत्वपूर्ण और लोकश्रुतियों में वर्णित एक विशेष प्रसंग के रूप में मानी जाती है।

बालमुकुन्द की प्रतिमा प्राप्त होने के बाद गवरी बाई की आध्यात्मिक साधना और अधिक गहन होती चली गई। उनका ज्ञान, वैराग्य और ईश्वर के प्रति समर्पण निरंतर बढ़ता गया। वे अक्सर ध्यान और समाधि की अवस्था में लीन रहने लगीं। प्रारम्भ में उनकी समाधि कुछ घंटों या एक-दो दिनों तक रहती थी, किंतु धीरे-धीरे इसकी अवधि बढ़कर कई दिनों और कभी-कभी पंद्रह दिनों तक पहुँच जाती थी। समाधि के दौरान उन्हें न तो भोजन-पानी की आवश्यकता का अनुभव होता था और न ही अपने शरीर का कोई बोध रहता था। समाधि से बाहर आने पर वे स्नान करके पुन: भजन-कीर्तन, पूजा-अर्चना और सत्संग में लग जाती थीं।लोकमान्यताओं के अनुसार गवरी बाई की वाणी अत्यंत प्रभावशाली मानी जाती थी। कहा जाता है कि वे जो भी भविष्यवाणी या कथन करती थीं, वह आगे चलकर सत्य सिद्ध होता था। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व, साधना और कथित चमत्कारों की चर्चा दूर-दूर तक फैलने लगी, जिससे उनकी प्रतिष्ठा एक सिद्ध संत के रूप में स्थापित हो गई।विक्रम संवत् 1860 में गवरी बाई ने गोकुल, वृंदावन और अन्य प्रमुख तीर्थस्थलों की यात्रा करने का निर्णय लिया। डूंगरपुर के महारावल ने उन्हें रोकने का प्रयास किया, किंतु वे अपने संकल्प पर अडिग रहीं और सभी सांसारिक सुविधाओं का त्याग कर तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान कर गईं।

यात्रा के दौरान वे जयपुर पहुँचीं, जहाँ तत्कालीन शासक महाराजा प्रताप सिंहके आग्रह पर कुछ समय के लिए राजमहल में ठहरीं। महाराजा उनकी कृष्ण-भक्ति, साधना और आध्यात्मिक व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित हुए तथा सम्मानस्वरूप उन्हें पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ भेंट करनी चाहीं। गवरी बाई ने प्रारम्भ में यह भेंट स्वीकार करने से इनकार कर दिया, परन्तु महारानी के विशेष आग्रह पर उन्होंने इसे दक्षिणा के रूप में ग्रहण कर लिया।जयपुर से आगे वे गोकुल, वृंदावन और मथुरा में कुछ समय तक रहीं तथा वहाँ की धार्मिक परंपराओं और कृष्ण-भक्ति से जुड़े स्थलों का दर्शन किया। इसके पश्चात् वे 'काशी' पहुँचीं, जहाँ उनका भव्य स्वागत किया गया। उनकी योग-साधना, काव्य-प्रतिभा और कृष्ण-भक्ति से प्रभावित होकर काशी नरेश सुन्दरसिंह ने उन्हें सम्मानस्वरूप पचास हजार रुपये भेंट किए।काशी प्रवास के दौरान गवरी बाई कई बार समाधि में लीन हुईं। उनकी अंतिम समाधि सात दिनों तक चली बताई जाती है। उस समय उनके साथ चतुरी बाई, जमुना बाई तथा प्रभाशंकर नामक उनके निकट संबंधी उपस्थित थे। जीवन के अंतिम क्षणों में उन्होंने गंगा तट पर समाधि लेने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने अपनी प्रिय बालमुकुन्द प्रतिमा चतुरी बाई को सौंप दी और गहन ध्यान में लीन होकर समाधिस्थ हो गईं। अंतत: विक्रम संवत् 1865 की चौत्र शुक्ल अष्टमी को उन्होंने अपने नश्वर शरीर का त्याग किया और भक्त परंपरा के अनुसार परमधाम को प्रस्थान किया। उनका जीवन कृष्ण-भक्ति, वैराग्य, साधना और लोककल्याण की भावना का अनुपम उदाहरण माना जाता है।गवरीबाई के अनुयायी नागर ब्राह्मण हुए। पहले डूंगरपुर में नागर ब्राह्मणों की काफी आबादी थी, मगर महारावल फतहसिंह के काल (1790-1808 ई.) में डूंगरपुर छोड़कर बांसवाड़ा व अन्य क्षेत्रों में चले गये।९ इसका कारण इस महारावल के काल में मराठा सरदार सदाशिवराव भाऊ का डूंगरपुर पर आक्रमण, आंतरिक गृहकलह इत्यादि ने डूंगरपुर राज्य की आर्थिक दशा को कमजोर बना दिया था। सर्वत्र अराजकता एवम् अव्यवस्था व्याप्त थी।गवरीबाई ने मीरांबाई की तरह कृष्णभक्ति में लीन होकर कई पदों व दोहों की रचनाएं की। उनके पदों में गुजराती, बृज तथा वागड़ी बोली का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने कुल 652 पद लिखे। उनके हस्तलिखित रचनाओं का एक संग्रह अचरतलाल मचेच नामक गृहस्थ को गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी से प्राप्त हुआ था, जो गुजराती, बृज व वागड़ी मिश्रित बालबोध लिपि में था। जिस पर 'गवरी बाई नुं जीवन चरित' शीर्षक अंकित था। उसके कई पेज आगे व पीछे से गायब थे, कई उलट-पलट भी थे. मगर पुराने कागज व स्याही तथा जगह-जगह गवरी बाई का स्वयं को सम्बोधित करने से यह स्पष्ट हो गया कि यह गवरीबाई ने ही लिखा था।गवरीबाई ने अपने पदों के साथ-साथ राग-रागिनियों का भी उल्लेख किया है। ये हैं बसंत, सारंग, भैरव, मल्हार, धमाल, खमायची, कल्याण, मारू, जेजेवंती, पुरवी, गोड़ी, आसावरी, रामकली, सोहेणी, धानासरी, सोरठ, नट, देवगांधार, विलावल, विभास, धोल, कानड़ो, वेड़ागड़ो, मेवाड़ो, तोड़ी, काफी, ललित इत्यादि है। उनकी काव्य रचना में ज्ञान एवम् वेदान्त का समिश्रण है।९ गवरी बाई का स्थान निगुण धारा के कवयित्रियों में प्रमुख है। जैसे कबीर, दादू व रैदास थे। वस्तुत: गवरीबाई वैराग्य, ब्रह्मरस तथा आत्मज्ञान से ओतप्रोत थी। उनकी महिमा वागड़वासियों में सदा चिरस्मरणीय रहेगी।

1. गवरी बाई को वागड़ क्षेत्र की प्रमुख संत-कवयित्रियों में गिना जाता है।
2. उनकी भक्ति परमीराबाईकी परंपरा का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है,

इसलिए उन्हें 'वागड़ की मीरा' कहा जाता है।

3. उनकी रचनाएँ वागड़ी, राजस्थानी और लोकभाषा की मधुर शैली में मिलती हैं।
4. उन्होंने समाज में भक्ति, नैतिकता, सदाचार और आध्यात्मिक चेतना का संदेश दिया।
5. उनके भजन आज भी वागड़ क्षेत्र में धार्मिक आयोजनों, सत्संगों और लोक-संगीत कार्यक्रमों में गाए जाते हैं।

इस प्रकार गवरी बाई का जीवन त्याग, साधना, कृष्ण-प्रेम और साहित्यिक सृजन का अद्भुत उदाहरण है। उन्होंने अपने भजनों और आध्यात्मिक जीवन के माध्यम से वागड़ की सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपरा को समृद्ध किया और आज भी श्रद्धा एवं सम्मान के साथ स्मरण की जाती हैं।

5. संत योगसिद्ध ठाकुर गुमानसिंह जी लक्ष्मणपुरा - आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त हुए संत गुमान सिंह ने 20-22 आध्यात्मिक रचनाएँ आत्मज्ञान से सृजित की एवं इसी संदर्भ में लक्ष्मणपुरा में गुमान ज्ञान संस्थान द्वारा चेत्र कृष्णा द्वादशी को गुमानसिंह की साधना केन्द्र राम झरोखा में सत्संग का आयोजन सारंगदेवोत परिवार लक्ष्मणपुरा द्वारा किया जाता है।इसी श्रृंखला में ठाकुर गुमानसिंह जी द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, योग, भक्ति से मोक्ष प्राप्ति में उनके द्वारा बताये गये साधना के मार्ग के अनुसरण में राम झरोखा व चारभुजाजी का मंदिर लक्ष्मणपुरा में बनवाया जिसमें उनके द्वारा गाये भजन व श्रद्धालुओं द्वारा गुणानुवाद किया जाता है। उनके शिष्य चतुरसिंह करजाली जी को भी याद किया जाता है। बाद में भोजन प्रसाद का आयोजन किया जाता है जिसमें गुमानसिंह जी के गुणों पर चर्चा होती है जिसमें सभी दूर-दराज क्षेत्र से आये ज्ञान पिपासु गुमानसिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जानकर अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करते हैं।

6. संत बावजी चतुरसिंह जी करजाली- आपके गुरू योगसिद्ध ठाकुर गुमान सिंह जी सारंगदेवोत लक्ष्मणपुरा थे। इनकी साधना स्थली खेमली रेल्वे स्टेशन के निकट नउवा गांव जहां बावजी को सम्वत् 1978 को आत्म साक्षात्कार हुआ। उस स्थान पर एक कुटिया स्थित है जिसमें उनका चित्र, चरण पादुका है और वहीं निकट स्थित पार्क में उनकी विशाल प्रतिमा है। जहां तीन दिवसीय मेले का आयोजन प्रतिवर्ष अप्रेल माह के प्रथम सप्ताह में सत्संग किया जाता है। माघ कृष्णा अष्टमी को गुलाब बाग में सत्संग गोष्ठी का आयोजन प्रतिवर्ष किया जाता है जिसमें बावजी चतुरसिंह जी के चित्र पर माल्यार्पण कर उनके त्याग व ज्ञान का करतल ध्वनि के साथ कहे वचनों एवं दोहों का पाठ किया जाता है।

संत सूरमल दास गुजरात के साबर काटा के गाँव से डूंगरपुर तक इनकी धुणियां है। वहीं बांसवाड़ा में अरथूना में 500 शिष्य है। संत मावजी की तीर्थ स्थली बांसवाडा, डूंगरपुर और उदयपुर जिलों तक हैं। गुरू गोविन्द भी ढूँगरपुर के बेडसा गाँव में जन्मे और इनका पंथ धुणी स्थल मानगढ़ आनन्दपुरी में बना। वागड़ में जोगियों का अपना एक अलग महत्व हैं। ये जोगी वागड़ के भील समाज के जन्म, विवाह संस्कारों को एवं मृत्योन्परांत क्रिया क्रम भीलों के गोत्र गीत, वंशावली इत्यादि गाते हुए वागड़ के सम्पूर्ण क्षेत्र में प्रवास करते हैं। इनके गाथा गीतों में भी बांसवाड़ा डूंगरपुर उदयपुर एवं कडाणा तक के क्षेत्र में भील सुमदायों में सम्पन्न समस्त संस्कारों का वर्णन मिलता हैं।

निष्कर्ष - मेवाड़ और वागड़ की संत परंपरा केवल धार्मिक इतिहास नहीं है, बल्कि यह दक्षिणी राजस्थान की सांस्कृतिक आत्मा का आधार है। यहाँ के संतों ने भक्ति, लोकमंगल, सामाजिक सुधार, कला, साहित्य और जनजागरण के माध्यम से ऐसी विरासत निर्मित की जिसने क्षेत्रीय पहचान को मजबूत किया तथा भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाया। मीराबाई की भक्ति, मावजी की लोकचेतना, गोविन्द गुरु का सामाजिक सुधार तथा एकलिंगजी-नाथद्वारा-बेणेश्वर जैसे तीर्थ आज भी इस गौरवशाली परंपरा के जीवंत प्रतीक हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. मोहब्बत सिंह राठौड़, बापा रावल, पृष्ठ सं.23-25, प्रताप शोध प्रतिष्ठान उदयपुर, 2015ई.।
2. स्वयं के द्वारा बापा रावल पेनोरमा का भ्रमण जहाँ मंदिर भी स्थित हैं।
3. सौभाग्य कुंवरी राणावत, मीरा चरित, पृष्ठ सं.06, डिवाईन गिफ्ट, मथुरा, 2000ई.।
4. सं.प्रताप सिंह झाला, काव्य रचनाकार.कवि भवानी शंकर गौड़, मीरां माला, पृष्ठ सं. 6-7, प्रकाशक अमर प्रकाश तलावदा, उदयपुर, 2025ई.।
5. सं.ईश्वर सिंह राणावत, मोहब्बत सिंह राठौड़, मेवाड़-वागड़ के प्रमुख संत, मज्झमिका-अंक 48, पृष्ठ सं.76-84. प्रताप शोध प्रतिष्ठान, उदयपुर, 2012 ई.।
6. कांतिकुमार भट्ट, गुजरात की हिंदी कवयित्रियाँ गुर्जरश्री, पृष्ठ सं.47, 1975.
7. मरुमंदाकिनी, शोध पत्रिका, त्रैमासिक,अंक-4,पृष्ठ सं.47, सितम्बर 1975 ई.।
8. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य,(विक्रम सम्वत 2017) य राजस्थान का पिंगल साहित्य,पृष्ठ सं.157,270, प्रथम संस्करण 1952ई.।
9. वाग्वर, त्रैमासिक शोध पत्रिका, भाग-1, अंक-4, पृष्ठ सं.06, संस्था स्थापना दिवस, विक्रम सम्वत 1961.
10. सं.ईश्वर सिंह राणावत, मोहब्बत सिंह राठौड़, मेवाड़-वागड़ के प्रमुख संत, मज्झमिका-अंक 48, पृष्ठ सं.53-58.
11. राम सिंह सारंगदेवोत, योगसिद्ध ठा. गुमान सिंह जी व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृष्ठ सं.58-59, महाराणा मेवाड़ हिस्टोरिकल पब्लिकेशन ट्रस्ट, उदयपुर, 2013 ई. ।
12. सं.देव कोठारी, गुमान ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृष्ठ सं, ग दग्ष भूमिका, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1999 ई.।
13. स्वयं द्वारा सर्वे।
14. मालिनी काले, वाग्वर वसुधा की भक्ति धारा,पृष्ठ सं.07, हिमांशु पब्लिकेशन, उदयपुर, नई दिल्ली।

****